जैन और बौद्ध साधना-पद्धति

✡ डा० भागचन्द्र 'भास्कर', एम० ए०, पी-एच० डी०
[पालि एवं प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय]

साधना अध्यात्म-क्षेत्र की चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने का एक महामन्त्र है। व्यक्ति उसका केन्द्र-बिन्दु है, समाज उसका बाह्य आधार है और संसार उसका यथार्थवादी दर्पण है। साधक आत्मनिष्ठ होकर अपनी धर्म-साधना करता है और रहस्य की हर अनुद्घाटित परतों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है। शैलेशी अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसे विविध आयाम स्थापित करने पड़ते हैं जिन्हें उसकी वृत्ति की कसौटी कहा जा सकता है।

जैन और बौद्ध साधना पद्धति श्रामणिक साधना पद्धति के विशिष्ट अंग हैं। दोनों यद्यपि एक पथ के पथिक हैं, पर उत्तरकाल में उनकी पद्धतियों में कुछ अधिक अन्तर आ गया। बौद्ध-साधना में योगमार्ग का जितना अधिक विकास हुआ है उतना जैन-साधना में नहीं। वैदिक-साधना पद्धति से बौद्ध-साधना पद्धति अधिक प्रभावित दिखाई देती है।

साधनों की विशुद्धि पर दोनों साधनाओं ने प्रारम्भ में प्रायः समान बल दिया है, पर मध्यकाल में बौद्ध-साधना चारित्रिक शिथिलता की ओर बढ़ती दिखाई देती है। जैन-साधना इस प्रकार के प्रभाव से दूर रही। उसकी साधना के समूचे इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रिक दृढ़ता उसकी प्रबल भूमिका रही है। उसके अविच्छिन्न अस्तित्व का यही मूल कारण है।

दोनों साधना पद्धतियाँ अपने आप में गंभीर और विस्तृत हैं। उनका समायोजन एक निबन्ध में करना सरल नहीं। फिर भी हम यहाँ समासतः यह प्रयत्न करेंगे कि दोनों साधना पद्धतियों को स्पष्ट समझा जा सके और उनमें समानताओं तथा असमानताओं को दिग्दर्शित किया जा सके।

समस्त कर्मक्लेशों से मुक्ति प्राप्त करना ही साधना का मूल उद्देश्य है। अतः साधना और धर्म समानार्थक बन जाते हैं। योग और समाधि भी लगभग इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। तप, ध्यान, भावना और प्रधान भी इसी क्षेत्र के पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका उपयोग दोनों साधनाओं ने किया है।

जैन-साधना का भव्य प्रासाद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आधार-स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। बौद्ध साधना भी इसी प्रकार प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन अंगों को प्रधानतः संजोये हुए है। विवेचन की यही दिशा अधिक उपयुक्त होगी।

सम्यग्दर्शन और सम्मादिट्ठि

जैन-बौद्धधर्म प्रत्यात्मसंवेदी रहे हैं। स्वानुभव और तर्क की प्रतिष्ठा में उन्होंने अथक परिश्रम किया है। जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का तात्पर्य है—आत्मा के विविध स्वरूपों को पहिचानना। आत्मा के वहाँ तीन रूप माने गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। प्रथम स्थिति में साधारणजन आत्मा और शरीर को एक द्रव्य मानकर पर-पदार्थों में मोहित बना रहता है। उसके भवग्रहण और भवसंचरण का यही मूल कारण है।[1] द्वितीय स्थिति में यह मोह-बुद्धि दूर हो जाती है। इसी अवस्था में साधक अन्तरात्मा से परमात्मा की ओर बढ़ने लगता है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते वह आत्मा के मूल स्वरूप को पहिचानने लगता है और मैत्री, प्रमोद, कारुण्य व माध्यस्थ्य भावनाओं को भाते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, लाभ-अलाभ में, लोष्ठ-कांचन में समदृष्टिवान् हो जाता है। तदनन्तर वह निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त और अक्षय परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।[2]

सम्यग्दर्शन के बिना साधक चतुर्गति-भ्रमण करता है और कोटि-कोटि वर्षों तक कठोर तपश्चरण करते हुए भी रत्नत्रय रूप बोधि को प्राप्त नहीं करता।[3] सम्यक्दर्शन प्राप्त होते ही निःशंकित, निष्कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण साधक में प्रगट हो जाते हैं। इनके साथ ही संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि जैसे गुण की सरलतापूर्वक आ जाते हैं। इन गुणों के कारण तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोष स्वतः समाप्त हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन के अनेक प्रकार से भेद किये गये हैं—निश्चय और व्यवहार; सराग और वीतराग; निसर्गज और अधिगमज; क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक; आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ और परमावगाढ; आदि। सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्दृष्टि के संदर्भ में जैन साहित्य ने बड़े विस्तार से विवेचन किया है जिसे यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

बौद्धधर्म में सम्यग्दर्शन के ही समानान्तर **'सम्मादिट्ठि'** को स्वीकार किया गया है। चतुरार्यसत्यों को समझना ही सम्मादिट्ठि है।[4] उसके बिना निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं। तथागत बुद्ध ने कहा था 'भिक्षुओ ! जिस समय आर्य श्रावक दुराचरण को पहिचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को जान लेता है, सदाचरण को पहचान लेता है तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है।[5] बौद्धदर्शन जैनदर्शन के समान आत्मवादी न होते हुए भी किसी आत्मवादी से कम नहीं। उसकी अव्याकृत से अनात्मवाद तक की एक लम्बी यात्रा हुई है।[6] कर्म, पुनर्जन्म और निर्वाण को वह मानता ही है। आत्मा के स्थान पर चित्त, संस्कार, सन्तति, विज्ञान आदि जैसे शब्दों का उल्लेख किया जा सकता है। सम्मा-दिट्ठि, होने पर साधक संसारिक दुःखों की प्रकृति को जानते हुए सत्काय-दृष्टि आत्मवाद आदि सिद्धान्तों से विरत हो जाता है और इसी से वह समभावी बनता है। मार्गज्ञान और फल समापत्ति प्राप्त हो जाने पर पुद्गल या साधक को 'स्रोतापन्न' कहा जाता है। स्रोतापन्न हो जाने पर इस संसार में वह अधिक से अधिक सात बार जन्म-ग्रहण करता है। वह कभी भी तिर्यंच, नरक, प्रेत, या असुर योनि में उत्पन्न नहीं होता।

सम्यग्ज्ञान और पञ्ञा

ज्ञान भी आत्मा का अभिन्न गुण है जो मोहादि कर्मों के कारण अभिव्यक्त नहीं हो पाता। पर जैसे ही साधक जीव और अजीव के पार्थक्य को समझने लगता है, उसे सम्यग्ज्ञान हो जाता है। इस विवेक का उदय विशुद्ध भावों पर आधारित है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक की गई एक लम्बी दीर्घ तपस्या-साधना का यह फल है। जिस प्रकार सुहागा और नमक के जल से संयुक्त होकर स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है।[7]

जैनधर्म में कर्म के क्षय-क्षयोपशमादि के निमित्त से ज्ञान के पाँच भेद किये गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। योगी साधक ज्ञान की चरम साधना रूप केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता को प्राप्त करने के लिए ही कठोर तपश्चर्या में जुटे रहते हैं।

बौद्धधर्म में सम्यग्ज्ञान को प्रज्ञा कहा गया है। धर्म के स्वभाव का विशिष्ट ज्ञान प्रज्ञा है—धम्मसभावपरिवेध-लक्खणा पञ्ञा। मोहान्धकार का नाश करना उसका कृत्य है।[8] उसकी तीन श्रेणियाँ हैं—सञ्ञा, विञ्ञाण, और पञ्ञा। बुद्धघोष ने कहा है कि—एक अबोध बालक, ग्रामीण व्यक्ति और हेरञ्ञिक (सराफ) के बीच कार्षापण के मूल्यांकन में जो अन्तर हो सकता है वही अन्तर इन तीनों श्रेणियों में है। प्रज्ञा के ये तीनों सोपान क्रमशः विशुद्ध होते जाते हैं। सञ्ञा और विञ्ञाण से पञ्ञा में अधिक वैशिष्ट्य है।

प्रज्ञा के विभिन्न आधारों पर भेद किये गये हैं। धर्म के स्वभाव के प्रतिबोध स्वरूप से वह एक प्रकार की है। लौकिक और लोकोत्तर के भेद से अथवा साश्रव-अनाश्रव, नाम-रूप, सौमनस्य-उपेक्षा, दर्शन-भावना के भेद से दो प्रकार की है। चिंता, श्रुत और भावना, अथवा आय, अपाय और उपायकौशल्य अथवा परित्र, महद्गत और अप्रमाण के भेद से प्रज्ञा तीन प्रकार की है। चार आर्यसत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसंभिदा के ज्ञान के भेद से प्रज्ञा चार प्रकार की है।

स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की धर्म भूमि है। शीलविशुद्धि और चित्तविशुद्धि ये दो विशुद्धियाँ मूल हैं। दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शन, विशुद्धि और ज्ञानदर्शनविशुद्धि ये पाँच विशुद्धियाँ शरीर हैं। इसलिए प्रज्ञावान् व्यक्ति को उन भूमिभूत धर्मों में उदग्रहण (अभ्यास) करते हुए पंच विशुद्धियों की प्राप्ति करनी चाहिए। इससे साधक सन्मार्ग और असन्मार्ग का भेद-विज्ञान पा लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेदविज्ञान के बाद साधक को विपस्सनायुक्त उदय-व्ययानुपश्यना, भङ्गानुपश्यना, भयतोपस्थान, अदीनवानुपश्यना, निर्वेदानुपश्यना, मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्यानुपश्यना और संस्कारोपेक्षा ये आठ ज्ञान होते हैं। साथ ही प्रतीत्य-समुत्पाद का अनुलोमात्मक ज्ञान भी होता है। इसे प्रतिपदा ज्ञानदर्शनविशुद्धि कहते हैं। पश्चात् यह विशुद्धि उसे स्रोतापत्ति, सकदागामी, अनागामी और अर्हत् इन चार मार्गों की प्राप्ति की ओर अग्रसर करती है। इस बीच साधक चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक्प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पंचेन्द्रिय, पंचबल, सप्तबोध्यंग और आष्टाङ्गिक मार्ग इन सैंतीस बोधपाक्षिक धर्मों की प्राप्ति करता है। तदनन्तर उसके संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोकधर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आश्रव, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशल पथ आदि का प्रहाण होता है जिससे उसे सर्व क्लेशों का विध्वंस करने एवं आर्यफल का रसानुभव करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। अनित्य, दुःख और अनात्म का ज्ञान होने पर विपस्सना का प्रादुर्भाव होता है। यही विपस्सना प्रज्ञा का मार्ग है। इसी को लोकोत्तर समाधि कहा गया है।

दिव्यचक्षु, दिव्यस्रोत, चेतोपर्वज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञान इन छह ज्ञानों को बौद्धधर्म में 'षडभिज्ञा' कहा है। चेतोपर्वज्ञान जैन धर्म का मनःपर्ययज्ञान है, पूर्वानुस्मृति व च्युत्युत्पादज्ञान जैनधर्म का अवधिज्ञान है, एवं शेष ज्ञानों की तुलना केवलज्ञान से की जा सकती है। जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म में प्रज्ञा का वर्णन अधिक सरल और स्पष्ट-सा लगता है।

सम्यक्चारित्र और साधना

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए सम्यक्चारित्र का परिपालन अपेक्षित है। सम्यक्चारित्र के बिना साधक का दर्शन और ज्ञान निरर्थक है।[९] तीनों का समन्वित मार्ग ही मुक्ति का सही मार्ग है। समस्त पाप-क्रियाओं को छोड़कर, पर-पदार्थों में राग-द्वेष दूर कर उदासीन और माध्यस्थ्य भाव की अङ्गीकृति सम्यक्चारित्र है।[१०]

सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है—एक सर्वदेशविरति अथवा महाव्रत जिसे मुनि-वर्ग पालन करता है और दूसरा एकदेशविरति अथवा अणुव्रत जो श्रावक-वर्ग ग्रहण करता है। अहिंसा आदि बारह व्रतों का पालन करता हुआ साधक आध्यात्मिक उत्कर्ष करता जाता है और तदर्थ वह दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिज्ञाओं का क्रमशः यथाशक्ति पालन करता है। इसी को 'प्रतिमा' कहा गया है।

इसके बाद की अवस्था मुनिव्रत है जिसमें वह सत्ताइस मूलगुणों, पंच समितियों, षडावश्यकों आदि का पालन करता हुआ आत्मा का क्रमिक विकास करता है। इसी विकासात्मक सोपान को गुणस्थान कहा गया है जिनकी संख्या १४ है—मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त-संयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसम्परायसंयत, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोग-केवली। इन गुणस्थानों को पार करने पर योगी साधु मुक्त अथवा सिद्ध हो जाता है।

बौद्ध योग-साधना

बौद्ध योग-साधना पद्धति में शमथ और विपश्यना के माध्यम से निर्वाण की प्राप्ति मानी गई है। शमथ में साधक कर्मोपशमन के लिए चित्त को एकाग्र करता है। चित्त की एकाग्रता को प्राप्त करने के बाद उसे जब मार्ग-ज्ञान और फल-ज्ञान होता है तब उसे विपश्यना कहते हैं। साधना की पूर्णता विपश्यना में ही होती है। विपश्यना केवलज्ञान या सर्वज्ञता का प्रतीक है और शमथभावना को सम्यक्चारित्र कहा जा सकता है। इसके लिए जिस प्रकार से जैन साधना में सम्यग्दृष्टि होना आवश्यक है उसी प्रकार बौद्ध साधना में भी सम्मादिट्ठि का एक विशिष्ट स्थान है। यह स्थविरवादी साधना पद्धति है।

१. शमथ भावना

बौद्ध साधक प्रथमतः शमथ भावना का अभ्यास करता है और कल्याण मित्र की खोज करता है।[११] बाद में शीलविशुद्धि, इन्द्रिय संवरण, आजीव परिशुद्धि तथा प्रत्यय संनिश्रित शील का अभ्यास करते हुए लक्ष्य प्राप्ति के लिए दस प्रकार के विघ्न (पलिबोध) दूर करे—आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, अबाध, ग्रन्थ और ऋद्धि।

स्वभावादि की दृष्टि से छह प्रकार के व्यक्तित्व हुआ करते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, और वितर्कचरित। अपने चरित के अनुसार साधक कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) का चुनाव करता है। ये कर्मस्थान दो प्रकार के होते हैं—अभिप्रेत और परिहरणीय। उनका विनिश्चय दस प्रकार से होता है—संख्या, उप-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार अर्पणा, ध्यान (समाधि), ध्यान, समतिक्रमण, परिवर्धनपरिहीन, आलम्बन, भूमि ग्रहण, प्रत्यय एवं चर्या। इनमें संख्या को प्रमुख कहा जा सकता है। संख्या की दृष्टि से साधक कर्मस्थानों का चुनाव सात प्रकारों से करता है—

(१) **दस कसिण**—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात, आलोक और परिच्छिन्नाकाश।

(२) **दस अशुभ**—उद्धमातक, विनीलक, विपूयक, विच्छिद्रक विखदितक, विक्षिप्तक, हतविक्षिप्तक, लोहितक, पुलवक और अस्थिक।

(३) **दस अनुस्मृतियां**—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग, देवता, मरण, कायगता, आनापान और उपशम।

(४) **चार ब्रह्मविहार**—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा।

(५) **चार आरूप्य**—आकाश, विज्ञान, आकिंचन्य और नैव संज्ञानासंज्ञा।

(६) **एक संज्ञा**—आहार में प्रतिकूलता, एवं

(७) **एक व्यवस्थान**—चारों धातुओं का व्यवस्थापन।

इस प्रकार से शील का परिपालन करने वाले योगी के लिए यह आवश्यक है कि वह अल्पेच्छा, सन्तोष, संलेख, प्रविवेक आदि गुणों से मण्डित हो। शील की परिशुद्धि के लिए उसे लोकामिष (लाभ-सत्कार आदि) का परित्याग, शरीर और जीवन के प्रति निर्ममत्व तथा विपश्यना की प्राप्ति भी अपेक्षित है। इसकी प्रपूर्ति के लिए बौद्धधर्म में तेरह धुताङ्गों का पालन करना उपयोगी बताया गया है—पांसुकूलिक, चीवरिक, पिण्डपातिक, सापदानचारिक, एकासनिक, पात्रपिण्डिक, खलुपच्छाभत्तिक, आरण्यक, वृक्षमूलिक। इन धुतांगों के परिपालन से क्लेशावरण दूर होता है और निर्वाण की प्राप्ति का मार्ग स्पष्ट हो जाता है।

दिव्यज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से कुछ विशेष भावनाओं का अनुग्रहण भी अपेक्षित है। इन्हीं विशिष्ट भावनाओं को बोधिपाक्षिक भावना कहते हैं। इनकी संख्या ३७ है—

(१) **चार स्मृति प्रस्थान**—काय, वेदना, चित्त और धर्मों में अशुभ दुःख, अनित्य और अनात्म रूप तत्त्वों पर चिन्तन करना।

(२) **चार सम्यक् प्रधान**—उत्पन्न और अनुत्पन्न अकुशलों को दूर करना तथा उत्पन्न न होने देने के कृत्य और अनुत्पन्न एवं उत्पन्न करने और उनको बनाये रखने के कृत्य को सिद्ध करना।

(३) **चार ऋद्धिपाद**—छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा।

(४) **पाँच इन्द्रियाँ**—

(५) **पाँच बल**—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा।

(६) **सात बोध्यंग**—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रलब्धि, समाधि और उपेक्षा।

(७) **आर्याष्टाङ्गिक मार्ग**—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्ति, आजीव, व्यायाम (प्रयत्न), स्मृति और समाधि।

बौद्ध साधना के वे सभी अंग जैन साधना के महाव्रत, समिति, संयम, मूशयन, एक भक्त आदि व्रतों में गर्भित हो जाते हैं।

ध्यान का स्वरूप :

ध्यान और साधना परस्पर अनुस्यूत है। दोनों को पृथक् नहीं किया जा सकता। ध्यान का अर्थ है—चिन्तन करना। बुद्धघोष ने उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"**झायत्ति उपनिज्झायतीति झानं** अथवा **इमिना योगिनो झायन्ती ति**" झानं अर्थात् किसी विषय पर चिन्तन करना। इसका दूसरा अर्थ भी किया गया है—"**पच्चनीक धम्मे झायेतीति झानं** अथवा **पच्चनीक धम्मे दहति, गोचरं वा चिन्तेती ति अत्थे**।" यहाँ ध्यान का अर्थ अकुशल कर्मों का दहन करना (झापन करना) भी किया गया है।[१२]

समाधि (सम्+आ+धा) शब्द का प्रयोग चित्त की एकाग्रता के सन्दर्भ में किया गया है।[१३] बुद्धघोष ने इस परिभाषा में कुशल शब्द और जोड़ दिया है—**कुसलचित्तेकग्गता समाधि**।[१४] यहाँ "**सम्मा समाधी ति यथा समाधि, कुसल समाधि**" कहकर बुद्धघोष ने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि समाधि का सम्बन्ध शुभ भावों को एकाग्र करने से है। समाधि दो प्रकार की होती है—उपचार समाधि और अर्पणा समाधि। उपचार समाधि में नीवरणों का प्रहरण हो जाता है और अर्पणा में ध्यान की प्राप्ति हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूपावचर ध्यान

बौद्धधर्म में ध्यान के मूलत: दो भेद मिलते हैं—आरम्मण उपनिज्झान (आलंबन पर चिन्तन करने वाला) और लक्खण उपनिज्झान (लक्षणों पर चिन्तन करने वाला)। आरम्मण उपनिज्झान आठ प्रकार का है—चार रूपावचर और चार अरूपावचर। चित्त जब रूप का ध्यान करता है तब उसे रूपावचर कहते हैं। इस अवस्था में ध्यान के बाधक तत्वों (नीवरणों—कामच्छन्द, व्यापार, स्त्यानमिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा एवं अविद्या) का प्रहाण हो जाता है और वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और उपेक्षा ये ध्यान के पाँचों अंग चित्त को अपने आलंबन पर स्थिर बनाये रखते हैं। वितर्क के माध्यम से चित्त रूपालम्बन पर अपने को स्थिर किये रहता है। विचार से वह अनुसंचरण करता है। प्रीति से तृप्ति और सुख से हर्षातिरेक पैदा करता है। इन सभी के माध्यम से यह अपने को चंचलता से दूर रखता है। यह **प्रथम ध्यान है। यहीं यह चित्त कायप्रलब्धि और चित्तप्रलब्धि को पूर्ण करता है तथा क्षणिकसमाधि, उपचार-समाधि और अर्पणासमाधि को प्राप्त करता है। साधक ध्यान की इस प्रथम अवस्था में पाँच प्रकार से वशी का अभ्यास करता है—आवर्जन, सम, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण। साधक इन पाँचों अंगों से चित्त को ध्यान के पूर्वोक्त पांचों अंगों में निरन्तर लगाये रखने की शक्ति एकत्रित कर लेता है।

द्वितीय ध्यान—प्रथम रूपावचर ध्यान की प्राप्ति के बाद साधक स्मृति और संप्रजन्य से युक्त होकर ध्यानांगों का प्रत्यवेक्षण करता है। उसे वितर्क-विचार स्थूल जान पड़ने लगते हैं और प्रीति, सुख व एकाग्रता शान्तिदायी प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में पृथ्वीकसिण पर अनुचिन्तन के द्वारा भवांग को काट कर मनोद्वारावर्जन उत्पन्न हो जाता है। उसी पृथ्वी-कसिण में चार-पांच जवन उत्पन्न होते हैं। केवल अन्तिम जवन रूपावचर का है और शेष कामावचर के होते हैं। ध्यान की इस द्वितीय अवस्था में वितर्क और विचारों का उपशम हो जाता है। इसी को वितर्क और विचारों के उपशम होने से आंतरिक प्रसार, चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न प्रीति सुख वाला द्वितीय ध्यान कहा जाता है। इसके प्रमुख तीन अंग हैं—प्रीति, सुख और एकाग्रता। इस ध्यान को सम्पसादन अर्थात् श्रद्धा और प्रसार युक्त तथा एकोदिभाव कहा गया है—**वितक्कविचारानं वूपसमा अजझत्तं सम्पसादनं चेतसो एकोदिभावं अवितक्कं अविचारं समाधिजं पीतिसुखं दुतियं झानं उपसम्पज्ज विहरति।**[15] वितर्क और विचार का अभाव हो जाने से उत्पन्न होने वाला सम्पसादन और एकोदिभाव इस ध्यान की विशेषता है।

तृतीय ध्यान—साधक की ध्यान अवस्था जब विशुद्धतर हो जाती है तो उसे द्वितीय ध्यान भी दोषग्रस्त प्रतीत होने लगता है। वितर्क, विचार प्रथम दो ध्यानों में शान्त हो जाते हैं और प्रीति चूंकि तृष्णा सहगत होती है अतः उसे भी छोड़ दिया जाता है। प्रीति यहाँ स्थूल होती है और सुख-एकाग्रता सूक्ष्म होती है। प्रीतिरूप स्थूल अंग के प्रहाण के लिए योगी पृथ्वीकसिण का पुनः-पुनः चिन्तन करता है और उसी आलम्बन में चार या पाँच जवन दौडाते हैं जिनके अन्त में एक रूपावचर तृतीय ध्यान वाला और शेष कामावचर ध्यान होते हैं। इस ध्यान में प्रीति तो होती नहीं, मात्र सुख और एकाग्रता शेष रह जाती है। उपेक्षा, स्मृति और संप्रजन्य इसके परिष्कार हैं। साधक इस ध्यान की प्राप्ति के हो जाने पर उपेक्षा भाव धारण कर लेता है और समभावी हो जाता है। यह उपेक्षा दस प्रकार की है—षडंग, ब्रह्म-विहार, बोध्यंग, वीर्य, संस्कार, वेदना, विपश्यना, तत्र माध्यस्थ्य, ध्यान और परिशुद्धि।

क्षीणाश्रव भिक्षु अथवा साधक की वृत्ति उदासीन नहीं होती। वह स्मृति और संप्रज्य युक्त होकर उपेक्षक हो जाता है। सर्वप्रथम छः इन्द्रियों के प्रिय-अप्रिय आलंबनों के प्रति परिशुद्ध रूप से उपेक्षा भाव रखता है। यह षडंगोपेक्षा है। प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना बोध्यंगोपेक्षा है। अत्यधिक और शिथिल भाव से विरहित उपेक्षा सदन वीर्य (प्रयत्न) उपेक्षा है। नीवरणों के प्रहाण हो जाने पर संस्कारों के ग्रहण करने में उपेक्षा संस्कारोपेक्षा है। यह संस्कारो-पेक्षा समाधि से उत्पन्न होने वाली आठ (चार ध्यान और चार आरूप्य) तथा विपश्यना से उत्पन्न होने वाली दस (चार मार्ग, चार फल, शून्यता विहार और अनिमित्तक विहार) प्रकार की है। दुःख और सुख की उपेक्षा वेदनोपेक्षा है। पंच स्कन्धों आदि के विषय में उपेक्षा विपश्यनोपेक्षा है। छन्द अधिमोक्ष आदि येवापनक धर्मों में उपेक्षावृत्ति तत्रमध्यस्थो-पेक्षा है। तृतीय ध्यान में अग्र सुख में उपेक्षा भाव ध्यानोपेक्षा है। नीवरण, वितर्क आदि विरुद्ध धर्मों के उपशम के प्रति भी उपेक्षा भाव परिशुद्ध्युपेक्षा है।

इन उपेक्षा के प्रकारों में षडंगोपेक्षा, ब्रह्मविहारोपेक्षा, बोध्यंगोपेक्षा, मध्यस्थोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और परिशुद्ध्यु-पेक्षा अर्थात् एक ही हैं, मात्र अवस्थाओं का भेद है। संस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा भी ऐसी ही है। यहाँ ध्यानोपेक्षा अधिक अभिप्रेत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्थ ध्यान—ध्याता की चतुर्थ अवस्था में तृतीय ध्यान भी सदोष दिखाई देने लगता है। इसमें भी पांच प्रकार से वशी का अभ्यास किया जाता है। उस समय साधक विचारता है कि तृतीय ध्यान का सुख स्थूल है, अन्य भाग दुर्बल है और चतुर्थ ध्यान शान्तिदायी है, उपेक्षा, वेदना तथा चित्त की एकाग्रता शान्तिकर है। यह विचार कर स्थूल अंगों का प्रहाण और शान्त अंगों की प्राप्ति के लिए पृथ्वीकसिण का अनुचिन्तन कर उसे आलम्बन बनाकर मनोद्वारा-वर्जन उत्पन्न करता है। तत्पश्चात् उसी आलम्बन में चार या पांच जवन दौड़ते हैं जिनके अन्त में एक रूपावचर चतुर्थ ध्यान का रहता है। चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति के पूर्व ही कायिक सुख-दुःख नष्ट हो जाता है, सौमनस्य-दौर्मनस्य समाप्त हो जाता है। सौमनस्य चतुर्थ ध्यान के उपचार के क्षण में प्रहाण होता है और दुःख-दौर्मनस्य, सुख प्रथम उपचार के क्षण में।

विविध आवर्जनों में प्रथम ध्यान के उपचार में शान्त हुई दुःखेन्द्रियों की उत्पत्ति डांस, मच्छर आदि के काटने से हो सकती है, पर अर्पणा से नहीं होती। द्वितीय ध्यान के उपचार क्षण में यद्यपि चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है तथापि विचार और वितर्क के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से उसकी कोई सम्भावना नहीं रहती। इसी प्रकार यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार क्षण में कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय रूप प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर अर्पणा में प्रीति के अत्यन्त निरुद्ध हो जाने से उसकी सम्भावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार क्षण में अर्पणा प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भलीभांति चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक की उत्पत्ति सम्भव है, पर अर्पणा में उसकी सम्भावना नहीं रहती।[१६]

यह चतुर्थ ध्यान अदुःख और असुख रूप है। उपेक्षा भी इसे कहा जा सकता है। इसी उपेक्षा से स्मृति में परिशुद्धि आती है। यद्यपि प्रथम तीनों ध्यानों में यह उपेक्षा रहती है, पर परिशुद्ध अवस्था में नहीं रहती।

इस प्रकार प्रथम ध्यान में सुत्त परम्परा की दृष्टि से वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता ये पाँचों अंग विद्यमान रहते हैं। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार समाप्त हो जाते हैं। तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती और चतुर्थ में सुख का अभाव होकर मात्र एकाग्रता शेष रह जाती है।

बौद्ध साहित्य में ध्यान के भेदों की एक अन्य परम्परा भी प्राप्त होती है। अभिधर्म के अनुसार ध्यान के पांच भेद होते हैं। उसका प्रथम भेद ध्यान के चतुष्क भेद की परम्परा से पृथक् नहीं है। चतुष्क ध्यान परम्परा का द्वितीय ध्यान पञ्चक ध्यान परम्परा में द्वितीय और तृतीय भेद में विभक्त हो जाता है। इसी तरह चतुष्क ध्यान का तृतीय और चतुर्थ ध्यान पञ्चक ध्यान का चतुर्थ और पञ्चम ध्यान है।

अरूपावचर ध्यान

रूपावचर ध्यान की चतुर्थ अथवा पञ्चम ध्यान की अवस्था के बाद यद्यपि निर्वाण का साक्षात्कार सम्भव हो जाता है फिर भी साधक निर्वाण और निराकार आलम्बन पर ध्यान करता है। यही अरूपावचर ध्यान है। इसकी चार अवस्थायें होती हैं। प्रथम अवस्था में साधक अनन्त आकाश पर विचार करता है। द्वितीय अवस्था में अनन्त आकाश की स्थूल प्रतीति होने लगती है और विज्ञान सूक्ष्म लगने लगता है। इसे अरूप ध्यान की विज्ञानायतन नामक द्वितीय अवस्था कहते हैं। तृतीय अवस्था में आकिञ्चन्यायतन और चतुर्थ अवस्था में नेव सञ्जानासञ्ञायतन पर ध्यान किया जाता है। साधक यहाँ क्रमशः पूर्वतर आलम्बन को स्थूल और पश्चात्तर आलम्बन को सूक्ष्म मानता चला जाता है।

लोकोत्तर ध्यान

उपर्युक्त रूप से रूपध्यान और अरूप ध्यान के माध्यम से साधक परिशुद्ध समाधि को प्राप्त करता है। इसके निर्वाण रूप फल को लोकोत्तर ध्यान से उपलब्ध किया जाता है। इसी सन्दर्भ में लोकोत्तर भूमि अथवा अपरियायन्त का कथन किया गया है।

रूपावचर और अरूपावचर ध्यान में संयोजन के बीजों का सद्भाव संभावित रहता है जिनका लोकोत्तर ध्यान में प्रहाण कर दिया जाता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत परामर्श, कामच्छन्द, प्रतिद्य, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य एवं अविद्या ये दस संयोजन हैं। यद्यपि इनका प्रहाण नीवरण के रूप में हो जाता है फिर भी जो बीज शेष रह जाते हैं उनका विनाश लोकोत्तर ध्यान से हो जाता है। लोकोत्तर ध्यान में ही क्रमशः स्रोतापत्ति, सकदागामि, अनागामि और अर्हत् अवस्था प्राप्त होती है। लोकोत्तर भूमि में चित्त की आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाँच प्रकार के रूप ध्यान का अभ्यास करता है। इस प्रकार लोकोत्तर चित्त के चालीस भेद हो जाते हैं। लोकोत्तर ध्यान ही परिशुद्ध ध्यान कहा जाता है।

विपस्सना भावना

बौद्ध साधना में समाधि भावना (चित्त की एकाग्रता) और विपस्सना भावना (अन्तर्ज्ञान) का विशेष महत्त्व है। विपश्यना का तात्पर्य है वह विशिष्ट ज्ञान और दर्शन जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता प्रगट होती है। शमथयान और विपश्यनायान का सम्बन्ध दो प्रकार के व्यक्तियों से है—तण्हाचरित और दिट्ठिचरित। तण्हाचरित वाले साधक शमथपूर्वक विपश्यना के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं और दिट्ठिचरित वाले साधक विपश्यना पूर्वक शमथ के माध्यम से अर्हत् की प्राप्ति करते हैं। यहां श्रद्धा और प्रज्ञा तत्व का महत्व है। श्रद्धा तत्व के माध्यम से समाधि की प्राप्ति होती है। ऐसा साधक कर्मस्थान का अभ्यास करते हुए, ऋद्धियों की प्राप्तिपूर्वक विपश्यना मार्ग की उपलब्धि करता है और प्रज्ञा प्राप्ति कर अर्हत् बनता है। तथा प्रज्ञाप्रधान साधक विपश्यना मार्ग का अभ्यास करता है और अन्त में प्रज्ञा प्राप्त कर अर्हदावस्था प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि विपश्यना का सीधा सम्बन्ध अर्हत्प्राप्ति एवं निर्वाण प्राप्ति से है। समाधि का उससे सीधा सम्बन्ध नहीं। शमथ का मार्ग लौकिक समाधि का मार्ग है और विपश्यना को लोकोत्तर समाधि कहते हैं।

विपश्यना परम विशुद्धि की प्रतीकात्मक अवस्था है। यह विशुद्धि सात प्रकार की है—शील, चित्त, दृष्टि, कांक्षावितरण, मार्गामार्गज्ञान, प्रतिपदाज्ञान और ज्ञानदर्शन। इन विशुद्धियों के पालने से काय, मन व विचारों की पवित्रता सहजतापूर्वक उपलब्ध हो जाती है। विपश्यना का परिपाक पूर्णज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति माना गया है। शरीर के रहने पर सोपधिशेष निर्वाण और शरीर के नष्ट हो जाने पर निरुपधिशेष निर्वाण कहा जाता है। अभिज्ञाओं की प्राप्ति भी विपश्यना से होती है।

महायानी साधना

उपर्युक्त स्थविरवादी साधना के कुछ तत्त्व विकसित होकर महायानी साधना के रूप में सामने आये। ई०पू० लगभग तृतीय शताब्दी तक बौद्ध साधना का यह रूप निश्चित हो पाया। महायानी साधना के प्रमुखतः तीन भेद हैं—बोधिचित्त के द्वारा पारमिताओं की प्राप्ति, दशभूमियाँ तथा त्रिकायवाद।

बोधिसत्त्व का प्रारम्भ बोधिचित्त से होता है। "मैं बुद्धत्व प्राप्त करूंगा और संसार का परित्राण करूंगा।" इस प्रकार का प्रणिधान बोधिचित्त है। यह प्रणिधान उसे अचित्तता (शून्यतामयी दृष्टि) अथवा पदार्थचित्तता (महाकरुणा और महाप्रज्ञा) की ओर ले जाता है। उपायकौशल, पुण्यसंभार और ज्ञान संसार से इस दृष्टि में अधिक विशुद्धि आती है। पुद्गलनैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य की भावना पारमिताओं की साधना से प्राप्त होती है।

दस पारमिताओं की साधना के साथ दश भूमियों की व्यवस्था की गई है। ये दस भूमियाँ हैं—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दुरंगमा, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। इन भूमियों में क्रमशः दस प्रकार की पारमितायें पूर्ण होती है—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल, प्रणिधान, बल और ज्ञान।

प्रमुदिता भूमि में साधक को परार्थ वृत्ति से प्रसन्नता होती है और वह दस प्रकार के प्रणिधान, निष्ठायें और निपुणतायें अर्जित करता है। विमला भूमि में साधक ऋजुता, मृदुला, कर्मण्यता, दम, शम, कल्याण, अनासक्ति, अनपेक्षता उदारता और आशय नामक दस चित्ताशयों को पाता है। प्रभाकरी भूमि विविध ऋद्धियों और अभिज्ञाओं की उत्पादिका है। इसमें चार ब्रह्मविहारों का क्षेत्र विस्तृत होता है। अर्चिस्मती में सेंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का परिपालन किया जाता है। सुदुर्जया भूमि चित्त की विशुद्ध स्थिति का नाम है। इसमें आर्य सत्यों का बोध एवं महाकरुणा तथा शून्यतामयी दृष्टि का विकास होता है। यहाँ सामन्त और मौल दोनों प्रकार के ध्यान पूर्ण हो जाते हैं।

अभिमुखी भूमि में साधक दस प्रकार की समतायें प्राप्त करता है—अनिमित्त, अलक्षण, अनुत्पाद, अजात, विवित्त,, आदिविशुद्धि, निस्प्रपंच, अनाव्यूहानिर्व्यूह, प्रतिबिम्बनिर्माण और भवाभावद्रव इन समताओं को करने से प्रतीत्यसमुत्पाद स्पष्ट हो जाता है और शून्यता विमोक्ष सुख नामक समाधि प्राप्त हो जाती है। दूरंगमा भूमि में साधक एक विशेष स्थिति तक पहुँच जाता है जहाँ उसके समस्त कर्म अपरिचित अर्थ सिद्धि के लिए उपायकौशल का उपभोग करते हैं। अचला भूमि में संसारी प्राणियों के दुःखों की परिसमाप्ति करने का पुनः प्रणिधान किया जाता है। इस भूमि की यह विशेषता है कि साधक अपनी भूमि से च्युत नहीं होता तथा दशबल और चार वैशारद्यों की प्राप्ति करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधुमति भूमि में कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत धर्मों का साक्षात्कार, चार प्रतिसंविदों की प्राप्ति, धर्मों की स्वलक्षणता का ज्ञान एवं अप्रमेय बुद्धों की देशना को श्रवण करने का अवसर साधक को मिल जाता है। अन्तिम भूमि धर्ममेघा है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते साधक पुण्य और ज्ञान संसार की प्राप्ति, महाकरुणा की पूर्णता, सर्वज्ञता और समाधियों को अधिगत कर लेता है। इस स्थिति में प्रादुर्भूति 'महारत्नराज' नामक पद्म पर बोधिसत्व आसीन होता है। विविध दिशाओं और क्षेत्रों से समागत बोधिसत्व उसके परिमण्डल में बैठ जाते हैं। उसके कार्यों से अन्तिम महारश्मियों से साधक बोधिसत्व का अभिषेक होता है। तदनन्तर वह महाज्ञान से पूर्ण होकर धर्मचक्रवर्ती बन जाता है और संसारियों का उद्धार करना प्रारम्भ कर देता है। इन भूमियों को जैन परिभाषा में गुणस्थान कहा जा सकता है।

महायानी साधक का तृतीय रूप है त्रिकायवाद। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध अवेणिक आदि धर्मों से परिमण्डित हो जाते हैं और संसारियों के उद्धार का कार्य बुद्धकाय के माध्यम से प्रारम्भ कर देते हैं। बुद्धकाय अचिन्तता एवं शून्यता रूप धर्मों का एकाकार रूप है। कायभेद से उसके तीन भेद हैं—स्वभावकाय, संयोगकाय और निर्माणकाय। स्वभावकाय बुद्ध की विशुद्धकाय का पर्यायार्थक है। ज्ञान की सत्ता को स्वभावकाय से पृथक् मानकर काय के चतुर्थ भेद का भी उल्लेख मिलता है। इस भेद को ज्ञानधर्मकाय भी कहा गया है। इसका फल है—मार्गज्ञता, सर्वज्ञता और सर्वाकारज्ञता की प्राप्ति। स्वभावकाय और ज्ञानधर्मकाय के संयुक्त रूप को ही धर्मकाय की संज्ञा दी गई है। सम्भोगकाय के माध्यम से बुद्ध विभिन्न क्षेत्रों में देशना देते हैं। अतः उनकी संख्या अनन्तानन्त भी हो सकती है। निर्माणकाय के द्वारा इहलोक में जन्म लिया जाता है। बुद्ध इन त्रिकायों द्वारा परमार्थ कार्य करते हैं—

करोति येन चित्राणि हितानि जगतः समम्।
आभवान् सोऽनुपिच्छन्नः कायो नैर्माणिको मुनेः॥

बौद्ध तान्त्रिक साधना

तान्त्रिक साधना व्यक्ति की दुर्बलता का प्रतीक है। वह अपने को जब ईश्वर विशेष से हीन समझने लगता है तो विपत्तियों को दूर करने के लिए उसकी उपासना करने लगता है। तन्त्र का जन्म यहीं होता है। उसकी उपासना का सम्बन्ध कर्मों की निर्जरा से है। तन्त्र प्रक्रिया के मुख्य लक्षण हैं—ज्ञान और कर्म का समुच्चय, शक्ति की उपासना, प्रतीक प्राचुर्य, गोपनीयता, अलौकिक सिद्धि चमत्कार, गुरु का महत्त्व, मुद्रा-मण्डल-यन्त्र-मन्त्र आदि का प्रयोग, सांसारिक भोगों का सम्मान एवं उनका आध्यात्मिक उपयोग।[१७]

साधारणतः तान्त्रिक साधना के बीज त्रिपिटककालीन बौद्धधर्म में मिलने लगते हैं पर उसका व्यवस्थित रूप ईसा पूर्व लगभग द्वितीय शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। गुह्य-समाज तन्त्रों का अस्तित्व इसका प्रमाण है। सुचन्द्र, इन्द्रभूति, राहुलभद्र, मैत्रेयनाथ, नागार्जुन, आर्यदेव आदि आचार्यों की परम्परा बौद्ध तान्त्रिक साधना से जुड़ी हुई है। श्रीधान्यकूटपर्वत, श्रीपर्वत, श्रीमलयपर्वत आदि स्थान इसी साधना से सम्बद्ध हैं।

तन्त्र साधना का प्रमुख लक्ष्य है दैवी शक्तियों को वश में करके बुद्धत्व प्राप्ति करना। इसमें प्रायः किसी शक्ति विशेष की उपासना की जाती है और उसे अत्यन्त गोपनीय रखा जाता है। इससे अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तान्त्रिक साधना के अनुसार दुष्कर और तीव्र तप की साधना करने वाला सिद्धि नहीं पाता। सिद्धि वही पाता है जो यथेष्टकामोपभोगों के साथ साधना भी करे। यही उसका योग है।[१८] साधना की दृष्टि से तन्त्रों के चार भेद हैं—क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर योग। क्रियातन्त्र कर्म प्रधान साधना है। इसमें धारिणी तन्त्रों का समावेश हो जाता है। यहाँ बाह्य शारीरिक क्रियाओं का विशेष महत्त्व है। चर्या तन्त्र समाधि से सम्बन्धित है। योग-तन्त्र में महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा, और कर्ममुद्रा योग अधिक प्रचलित हैं। अनुत्तर तन्त्र वज्रसत्व समाधि का दूसरा नाम है। साधना की दृष्टि से इसके दो भेद हैं—मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। इन तन्त्रों की विधियों में प्रधान हैं—विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इनको वज्रयोग भी कहा जाता है।

तिब्बत और चीन में प्रचलित बौद्ध साधना

बौद्ध तान्त्रिक साधना भारत के बाहर अधिक लोकप्रिय हुई। तिब्बत, चीन और जापान ऐसे देश हैं जिनमें महायानी साधना का विकास अधिक हुआ। तिब्बत में ईसा की सप्तम शताब्दी में सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के राज्यकाल में बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। स्रोङ्चन स्वयं प्रथम धर्मज्ञ और तन्त्रज्ञ थे। उन्हीं के काल में 'मणिकाबुम' नामक तिब्बत साधना का ग्रन्थ लिखा गया।

तिब्बती साधना की दो प्रणालियाँ हैं—पारमितानय और तान्त्रिकनय। पारमितानय करुणा और प्रज्ञा का

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

आधार होता है तथा तान्त्रिकनय में महाकरुणा का ही आधार होता है। इन साधनाओं से तिब्बती साधकों का मुख्य उद्देश्य वज्रपद प्राप्त करना बताया गया है। कुछ और भी साधनायें हैं—महामुद्रायोग, हठयोग, पञ्चाङ्गयोग, षष्ठयोग, सहजयोग, उत्पत्ति-क्रमयोग, प्रत्याहारयोग आदि। लोकेश्वर, अक्षोभ्य, कालचक्र, लामाई नलजोर आदि नाम की साधनायें भी प्रचलित हैं।

जापान में प्रचलित बौद्ध साधना

सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि ईसा की सप्तम शती में ही बौद्धधर्म जापान में सम्भवतः कोरिया से पहुँचा। वहाँ सम्राट् शोतोकु ने उसे अशोक के समान संरक्षण प्रदान किया। कालान्तर में जापान में बौद्धधर्म का पर्याप्त विकास हुआ और फलतः ग्यारह सम्प्रदाय खड़े हो गये। कुश (अभिधार्मिक) और जोजित्सु (अभिधार्मिक) थेरवादाश्रयी हैं तथा सनरान (शून्यतावादी), होस्सो (आदर्शवादी), केगोन (प्रत्येक बुद्धानुसारी), तेण्डई (प्रत्येकबुद्धानुसारी) झेन (प्रत्येकबुद्धानुसारी), जोड़ो (सुखावतीव्यूहानुसारी), शिशु (सुखावती व्यूहानुसारी), और निचिदेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी) (इनमें शिगोन, झेन और निचिदेन सम्प्रदाय साधना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। ये सभी साधनायें भारत में प्रचलित बौद्ध साधना के समानान्तर अथवा किञ्चित् विकसित रूपान्तर लिये हुए हैं।

जैन योग साधना

जैन योग साधना का प्राचीनतम रूप पालि त्रिपिटक में उपलब्ध है। वहाँ एकाधिक बार निगण्ठों की तपस्या का वर्णन किया गया है। वही रूप उत्तरकालीन साहित्य में व्यवस्थित हुआ है। जैनधर्म में योग की व्याख्या आस्रव और संवरतत्त्व के रूप में की गई है। यह समूचे साहित्य को देखने से स्पष्ट हो जाता है। आश्रव तत्त्वात्मक योग संसरण की वृद्धि करने वाला है और संवरतत्त्वात्मक योग आध्यात्मिक चरम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त करने वाला है। इसी को क्रमशः सावद्य और निरवद्य योग भी कहा गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने इसी को क्रमशः अशुभ उपयोग और शुभ उपयोग कहा है।[१९] उमास्वामी ने इसी का समर्थन किया है।[२०] शुभचन्द्र ने ध्यान-साधना को योग साधना कहा है।[२१] हरिभद्र ने योग उसे कहा है जो साधक को मुक्ति की ओर प्रवृत्त करे।[२२] हेमचन्द्र ने योग को ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप माना है।[२३]

योग के सन्दर्भ में समाधि, ध्यान, साधना, व्रत, भावना आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। बौद्ध साधना के क्षेत्र में इन शब्दों के अतिरिक्त 'पधान' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इन सभी शब्दों की आधार भूमि है चित्त की एकाग्रता। इसी को जैन-बौद्ध साहित्य में समाधि से अभिहित किया गया है।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में तीन प्रकार के योगों का वर्णन किया है—

१. **इच्छा योग**—प्रमाद के कारण योग में असावधान हो जाना,

२. **शास्त्र योग**—योग-प्राप्ति में शास्त्र का अनुसरण करना, और

३. **सामर्थ्य योग**—शास्त्र योग की प्राप्ति के बाद आत्मा की विकसित शक्ति।

योगफल की प्राप्ति के पाँच सोपानों का भी उल्लेख हरिभद्र ने किया है—

१. व्रतादि के माध्यम से कर्मों पर विजय पाना,

२. भावना प्राप्ति

३. ध्यान प्राप्ति

४. समता प्राप्ति, और

५. सर्वज्ञत्व की प्राप्ति

योग का मुख्य लक्ष्य सम्यक्दृष्टि को प्राप्त करना है। इस दृष्टि का विकास योगदृष्टि समुच्चय में आठ प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। इन आठ दृष्टियों की तुलना योगदर्शन के आठ अंगों से की जा सकती है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये दृष्टियाँ क्रमशः खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अभ्युदय, संग एवं आसंग से रहित हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति व प्रवृत्ति सहगत हैं। ऋद्धि, सिद्धि आदि की प्राप्ति योग व समाधि के माध्यम से होती है। उपर्युक्त आठ दृष्टियों में से प्रथम चार दृष्टियाँ मिथ्यात्वी होने से अवेद्यसंवेद्य, अस्थिर व सदोष कही गई हैं और शेष चार दृष्टियाँ वेद्यसंवेद्य, स्थिर व निर्दोष मानी गई हैं। यह समाधि दो प्रकार की होती है—सालं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन और निरालंबन। निरालम्बन ही निर्विकल्पक समाधि है। यही शुक्लध्यान और मोक्ष है। बौद्धधर्म में निर्दिष्ट चार किंवा पाँच प्रकार के ध्यानों की तुलना यहाँ की जा सकती है।

ध्यान का तात्पर्य है—चित्तवृत्ति को केन्द्रित करना। इसका शुभ और अशुभ दोनों कार्यों में उपयोग होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ और अप्रशस्त कार्यों की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान शुभ और प्रशस्त फल की प्राप्ति में कारण होते हैं। मन को बहिरात्मा से मोड़कर अन्तरात्मा और परमात्मा की ओर ले जाना धर्मध्यान और शुक्लध्यान का कार्य है। सोमदेव ने अप्रशस्त ध्यानों को लौकिक और प्रशस्त ध्यानों को लोकोत्तर कहा है।[२४]

१-२. आर्त और रौद्र ध्यान

अप्रिय वस्तु को दूर करने का ध्यान, प्रिय वस्तु के वियुक्त होने पर उसकी पुनः प्राप्ति का ध्यान, वेदना के कारण क्रन्दन आदि तथा विषय सुखों की आकांक्षा आर्तध्यान के मूल कारण हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि के संरक्षण के कारण रौद्र ध्यान होता है। ये दोनों ध्यान अप्रशस्त हैं और संसार के कारण हैं। भौतिक साधनों की प्राप्ति के लिए इन ध्यानों में कायोत्सर्ग किया जाता है। मिथ्यात्व, कषाय, दुराशय आदि विकारजन्य होने के कारण ये ध्यान असमीचीन हैं। आकर्षण, वशीकरण, स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र कार्य करने की क्षमता साधकों में होती है। परन्तु ऐहिक फल वाले ये ध्यान कुमार्ग और कुध्यान के अन्तर्गत आते हैं। ध्यान का माहात्म्य इनसे अवश्य प्रगट होता है।[२५]

३. धर्मध्यान

साधना में विशेषतः धर्मध्यान और शुक्लध्यान आते हैं। धर्मध्यान में उत्तम क्षमादि दश धर्मों का यथा-विधि ध्यान किया जाता है। वह चार प्रकार का है—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय, और (४) संस्थानविचय। विचय का अर्थ है विवेक अथवा विचारणा।

१. **आज्ञाविचय**—आप्त के वचनों का श्रद्धान करके सूक्ष्म चिन्तनपूर्वक पदार्थों का निश्चय करना-कराना आज्ञाविचय है। इससे वीतरागता की प्राप्ति होती है।

२. **अपायविचय**—जिनोक्त सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना अथवा कुमार्ग में जाने वाले ये प्राणी सन्मार्ग कैसे प्राप्त करेंगे, इस पर विचार करना अपायविचय है। इससे राग-द्वेषादि की विनिवृत्ति होती है।

३. **विपाकविचय**—ज्ञानावरणादि कर्मों के फलानुभव का चिन्तन करना विपाक विचय है।

४. **संस्थानविचय**—लोक, नाड़ी आदि के स्वरूप पर विचार करना संस्थानविचय है।

यह धर्मध्यान सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है और शुक्लध्यान के पूर्व होता है। आत्मकल्याण के क्षेत्र में इसका विशेष महत्त्व है। धर्मध्यान के चारों प्रकार ध्येय के विषय हैं जिन पर चित्त को एकाग्र किया जाता है।[२६]

४. शुक्लध्यान

जैसे मैल दूर हो जाने से वस्त्र निर्मल और सफेद हो जाता है उसी प्रकार शुक्लध्यान में आत्मपरिणति बिलकुल विशुद्ध और निर्मल हो जाती है। इसके चार भेद हैं—१. **पृथक्त्ववितर्क** २. **एकत्ववितर्क**, ३. **सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति**, और ४. **व्युपरतक्रियानिवृति**।

शुक्लध्यान को समझने के लिए कुछ पारिभाषिक शब्दों को समझना आवश्यक है। यहाँ 'वितर्क' का अर्थ है श्रुतज्ञान। द्रव्य अथवा पर्याय, शब्द तथा मन, वचन, काय के परिवर्तन को 'वीचार' कहते हैं। द्रव्य को छोड़कर पर्याय को और पर्याय को छोड़कर द्रव्य को ध्यान का विषय बनाना 'अर्थसंक्रान्ति' है। किसी एक श्रुतवचन का ध्यान करते-करते वचनान्तर में पहुँच जाना और उसे छोड़कर अन्य का ध्यान करना 'व्यञ्जनसंक्रान्ति' है। काय योग को छोड़कर मनोयोग या वचनयोग का अवलम्बन लेना तथा उन्हें छोड़कर काययोग का अवलम्बन लेना 'योगसंक्रान्ति' है।

निर्जन प्रदेश में चित्तवृत्ति को स्थिरकर, शरीर क्रियाओं का निग्रहकर, मोह प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने वाला ध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान कहलाता है। इसमें ध्याता क्षमाशील हो, बाह्य-आभ्यन्तर द्रव्य-पर्यायों का ध्यान करता हुआ वितर्क की सामर्थ्य से युक्त होकर अर्थ और व्यञ्जन तथा मन-वचन-काय की पृथक्-पृथक् संक्रांति करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोहनीय प्रकृतियों को समूल नष्ट कर श्रुत ज्ञानोपयोग वाला वह साधक जब अर्थ, व्यञ्जन और योग संक्रान्ति को रोककर क्षीणकषायी हो वैडूर्य मणि की तरह निर्लिप्त होकर ध्यान धारण करता है-तब उसे एकत्व-वितर्क ध्यान कहते हैं।

एकत्ववितर्क शुक्लध्यान से घातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं और केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। केवलज्ञानी उपदेश देते रहते हैं। जब उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त शेष रह जाती है और वेदनीय, नाम और गोत्रकर्म की भी स्थिति उतनी ही रहती है, तब सभी वचनयोग और मनोयोग तथा बादर-काय योग को छोड़कर सूक्ष्मयोग का अवलम्बन ले सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान आरम्भ करते हैं और वह श्वासोच्छ्वास आदि समस्त काय, वचन और मन सम्बन्धी व्यापारों का निरोधकर 'व्युपरतक्रियानिर्वृति' ध्यान आरम्भ करता है तथा ध्याता अपनी ध्यानाग्नि से समस्त मल-कलंक रूप कर्मबन्धों को जलाकर निर्मल और किट्ट रहित सुवर्ण की तरह परिपूर्ण स्वरूप लाभ करके निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

पृथकत्ववितर्क और एकत्ववितर्क श्रुतकेवली के होते हैं तथा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रिया-निवृति ध्यान केवली के होते हैं। उसे **'शैलेशी अवस्था'** कहा जाता है। इनमें योगों का पूर्णतः निरोध हो जाने पर आत्मप्रदेश स्थिर हो जाते हैं। सच्चा योगी कर्मों के आवरण को क्षणभर में धुन डालता है और निराकुलतामय, स्थिर और अविनाशी परम सुख को प्राप्त करता है।[२७]

ध्यान के सन्दर्भ में ध्याता, ध्येय और ध्यान फल पर भी विचार किया जाता है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योगी को 'ध्याता' कहते हैं। यह 'ध्याता' प्रज्ञापारमिता, बुद्धिबलयुक्त, जितेन्द्रिय, सूत्रार्थावलम्बी, धीर, वीर, परीषहजयी, विरागी, संसार से भयभीत और रत्नत्रयधारी होता है।[२८] सप्ततत्त्व और नव पदार्थ उसके ध्येय रहते हैं। पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप, विशुद्धात्मा का स्वरूप तथा रत्नत्रय व वैराग्य की भावनाएँ भी उसके ध्येय के विषय हैं। उन पर चिन्तन करता हुआ ध्याता ध्यान के आलम्बन से परमपद रूप ध्यान के फल को प्राप्त कर लेता है। अव्यथ, असंमोह, विवेक और व्युत्सर्ग ये चार शुक्लध्यान के लक्षण हैं। क्षान्ति, युक्ति, मार्दव और आर्जव ये चार आलम्बन हैं।

ध्याता का ध्येय के साथ संयोग हो जाने को ही 'योग' कहते हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से साधक समाधिस्थ हो जाता है और तदाकारमय हो जाता है। जैन-बौद्ध योग परम्परा की पूर्ववर्तिनी किंवा समकालवर्तिनी वैदिक योग परम्परा का सूत्रपात ऋग्वेदकाल में हो चुका था। अग्नि, सोम और इन्द्र आदि देवताओं के विविध रहस्यात्मक, वर्णनों में उन्हें कवि, ऋषि, आदि शब्दों से अभिहित किया है। उपनिषत् परम्परा और गीता में तो योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। पतञ्जलि ने इन्हीं आधारों पर अपना 'योग सूत्र' रचा है। उनके 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सभी परम्पराओं ने स्वीकार किया है। उनके अष्टाग योग की तुलना हम जैन योग साधना से निम्न प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं—

१. **यम**—इसे जैनधर्म में महाव्रत कह सकते हैं।
२. **नियम**—मूलगुणों और उत्तर गुणों का पालन करना।
३. **आसन**—विभिन्न प्रकार के तप करना यह कायक्लेश में आता है।
४. **प्राणायाम**—जैनधर्म में मूलतः हठयोग को कोई स्थान नहीं, पर उत्तरकाल में उसका समावेश हो गया।
५. **प्रत्याहार**—प्रतिसंलीनता—अप्रशस्त से प्रशस्त।
६. **धारणा**—पदार्थ-चिन्तन।
७. **ध्यान**—उपर्युक्त चार प्रकार के ध्यान।
८. **समाधि**—धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

परवर्ती जैन साहित्य में ध्यान का एक अन्य वर्गीकरण भी मिलता है। वह चार प्रकार का है—**पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत** इसे हम तन्त्र साहित्य से प्रभावित कह सकते हैं। प्रथम ध्यानों में आत्मा से भिन्न पौद्गलिक द्रव्यों का अवलंबन लिया जाता है। इसलिए वह सालंबन ध्यान है। रूपातीत ध्यान का आलंबन अमूर्त आत्मा रहता है जिसमें ध्यान, ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। इसी को समरसता कहा जाता है। प्रथम तीनों ध्यान स्थूल और सविकल्पक है तथा चतुर्थ ध्यान सूक्ष्म और निर्विकल्पक है। स्थूल से सूक्ष्म और सविकल्पक से निर्विकल्पक की ओर जाना ध्यान का क्रमिक अभ्यास माना गया है।[२९]

जैन परम्परा में विद्यानुवाद पूर्व का उल्लेख मिलता है, जो अद्यावधि अनुपलब्ध है। पर प्रश्नव्याकरणांग में मंत्रविद्या और विद्यातिशयों का वर्णन उपलब्ध होता है। निरयावलिका नामक उपांग में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रस और गन्ध इन दस देवियों के नाम मिलते है। उमास्वाति आदि आचार्यों ने भी इनमें से कतिपय देवियों का नामोल्लेख किया है। उत्तरकाल में यक्ष, यक्षिणियों; शासन देवी-देवताओं तथा चैत्यवृक्षों की भी कल्पना समाहित हो गई। इतना ही नहीं, धारिणी, चामुण्डा, घटकर्णा, कर्ण पिशाचिनी, भैरव, पद्मावती आदि जैसी वैदिक-बौद्ध परम्पराओं में मान्य देवी-देवताओं की उपासना से भी जैन परम्परा बच नहीं सकी। आकाशगामिनी जैसी विद्याओं की भी सिद्धि की जाने लगी। प्रतिष्ठा, विधि-विधान आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त निर्वाणकलिका, रहस्यकल्पद्रुम, सूरिमन्त्रकल्प आदि शताधिक छोटे-मोटे ग्रन्थ भी रचे गये। स्तोत्रों की भी एक लम्बी परम्परा इसी यन्त्र-मन्त्र परम्परा से अनुस्यूत है।

समूची मान्त्रिक परम्परा के समीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिक्षु को मूलतः मन्त्रादिक तत्त्वों से दूर रहने की व्यवस्था थी।[३०] पर उत्तरकाल में प्रभावना आदि की दृष्टि से जैनेतर परम्पराओं का अनुकरण किया गया। इस अनुकरण की एक विशेषता दृष्टव्य है कि जैन मन्त्र परम्परा ने कभी अनर्गल आचरण को प्रश्रय नहीं दिया। लौकिकता को ध्यान में रखते हुए भी वह विशुद्ध आध्यात्मिकता से दूर नहीं हटी। इसलिए वह विलुप्त और पथभ्रष्ट भी नहीं हो सकी।

जहाँ तक योग का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि जैनयोग जहाँ समाप्त होता है वैदिक और बौद्ध योग वहाँ प्रारम्भ होता है। हठयोग की परम्परा से जैनयोग का कोई मेल नहीं खाता, फिर भी लौकिक आस्था को ध्यान में रखकर उत्तरकालीन आचार्यों ने उसके कुछ रूपों को आध्यात्मिकता के साथ सम्बद्ध कर दिया। जैनयोग के क्षेत्र में यह विकास आठवीं-नवमी शताब्दी से प्रारम्भ हो जाता है और बारहवीं शताब्दी तक यह परिवर्तन अधिक लक्षित होने लगता है। आचार्य सोमदेव, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि मनीषियों ने जैनयोग को वैदिक और बौद्धयोग की ओर खींच दिया। धर्मध्यान के अन्तर्गत आने वाले, आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान विचय के स्थान पर पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की परिकल्पना कर दी गई। पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और मारुती धारणाओं ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और भावना का स्थान ग्रहण कर लिया। प्राणायाम, काल ज्ञान और परकाया प्रवेश जैसे तत्त्वों का शुभचन्द्र और हेमचन्द्र ने खुलकर अपना उल्लेख किया। सोमदेव इस प्रकार के ध्यान को पहले ही लौकिक ध्यान की संज्ञा दे चुके थे। इसलिए चमत्कार-प्रदर्शन की ओर कुछ मुनियों का झुकाव भी हो गया। यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र की साधना ने आध्यात्मिक साधना को पीछे कर दिया। प्रतिष्ठा और विधान के क्षेत्र में बीसों यन्त्रों की संरचना की गई। कोष्ठक आदि बनाकर उनमें विविध मन्त्रों को चित्रित किया जाने लगा। प्रसिद्ध यन्त्रों में ऋषिमण्डल, कर्मदहन, चौबीसी मण्डल, णमोकार, सर्वतोभद्र सिद्धचक्र, शान्तिचक्र आदि अड़तालीस यन्त्रों का नाम उल्लेखनीय है।

जैन-बौद्ध योग साधना की तुलना

बौद्धधर्म में वर्णित उपर्युक्त ध्यान के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में ध्यान को मात्र निर्वाण साधक माना है पर जैन धर्मोक्त ध्यान संसार और निर्वाण दोनों के साधक हैं। जैन धर्म के प्रथम दो ध्यान संसार के परिवर्धक हैं और अन्तिम दो ध्यान निर्वाण के साधक हैं। धर्मध्यान शुभध्यान है और शुक्लध्यान शुद्धध्यान है। शुक्लध्यान का पृथक्त्ववितर्क ध्यान मन, वचन, काय इन तीन योगों के धारी आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीवों के होता है। द्वितीय एकत्ववितर्क ध्यान तीनों में से किसी एक योग के धारी बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव के होते हैं। तृतीय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान मात्र काययोग के धारण करने वाले तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम भाग में होता है और चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवर्ति ध्यान योग रहित (अयोगी) जीवों के चौदहवें गुणस्थान में होता है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वाति ने वितर्क को श्रुतज्ञान कहा है और अर्थव्यञ्जन तथा योग का बदलना विचार बताया है।[३१] प्रथम पृथकत्ववितर्क शुक्लध्यान वितर्क-विचार युक्त होता है और द्वितीय एकत्ववितर्क विचार-रहित और वितर्कसहित मणि की तरह अचल है। प्रथम शुक्लध्यान प्रतिपाति और अप्रतिपाती, दोनों होता है। बौद्ध-धर्म में वितर्क की अपेक्षा विचार का विषय सूक्ष्म माना गया है। उसकी वृत्ति भी शान्त मानी गई है। प्रथम शुक्लध्यान में वितर्क और विचार, दोनों का ध्यान किया गया है। द्वितीय शुक्लध्यान में विचार नहीं है। बौद्धधर्म में सभी ध्यान प्रतिपाति कहे गये हैं जबकि जैनधर्म में प्रथम ध्यान ही प्रतिपाति और अप्रतिपाती, दोनों हैं।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान के संदर्भ में बौद्धधर्म में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं मिलता पर चित्त के प्रकारों में हम उसका रूप पा सकते हैं। सराग, सदोष सम्मोह आदि जो अकुशल मूलक चित्त हैं उनसे राग-द्वेषादि भावों को उत्पत्ति होती है। कामच्छंद, व्यापाद, स्त्यानगृद्धि, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा से पांच नीवरण भी उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व आदि धर्मों को प्रहातव्य माना गया है। मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ ये चार भावनायें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मध्यान की सिद्धि में कारण होती हैं। इसी प्रकार बौद्धधर्म में निर्दिष्ट चार ब्रह्मविहारगत भावनायें (मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा) रूपध्यान की प्राप्ति के लिए होती हैं। बौद्धधर्म में ध्यान और समाधि में किञ्चित् भेद दिखाई देता है।

जैन साधना के अणुव्रत और महाव्रतों की तुलना बौद्ध साधना के दस शिक्षापदों से तथा बारह भावनाओं की तुलना अनित्यता आदि भावों से की जा सकती है। जैनधर्म का सम्यग्दृष्टि बौद्धधर्म के स्रोतापन्न से मिलता-जुलता है। इसी तरह सगदागामी, अनागामी और अर्हत् जैनधर्म के लौकान्तिकदेव, क्षपकश्रेणी तथा अर्हन्तावस्था से मेल खाते है। गुणस्थानों की तुलना दस प्रकार की भूमियों से की जा सकती है।

इस प्रकार जैन-बौद्धधर्म योग-साधना के क्षेत्र में लगभग समान रूप से चिन्तन करते हैं, पर उनके पारिभाषिक शब्दों में कुछ वैभिन्न्य है। इस वैभिन्न्य को अभी सूक्ष्मतापूर्वक परखा जाना शेष है। यह काम एक लेख का नहीं बल्कि एक महाप्रबन्ध का विषय है। ✡

संदर्भ एवं सन्दर्भ स्थल

१ ज्ञानार्णव; ३२, ६;
२ तत्त्वार्थ सूत्र, ७, ११
३ षट्प्राभृत, १, ४, ५
४ मज्झिम निकाय, सम्मादिट्ठि सुत्तन्त, १, १, ६
५ थेरगाथा
६ देखिये, लेखक का ग्रन्थ बौद्ध संस्कृति का इतिहास, पृ० ८८-९२
७ षट्प्राभृत, ६, ६,
८ विसुद्धिमग्ग, १४; पृ० ३०५
९ षट्प्राभृत, ६५
१० उत्तराध्ययन, २८.३०
११ पियो गुरु भावनीयो वत्ता च वचनक्खमो।
गंभीरञ्च कथंकत्ता नो चट्ठाने नियोजये ॥ —**मिलिन्दपञ्ह**, ३-१२
१२ समन्तपासादिका, पृ० १४५-६
१३ धम्मसंगणि, पृ० १०
१४ विशुद्धिमग्गो
१५ विसुद्धिमग्ग, दीघनिकाय, १, पृ० ६५-६
१६ बौद्ध धर्म दर्शन, पृ०, ७४, विशुद्धि मग्ग (हिन्दी) भाग १, पृ० १४६
१८ बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. ४५७.
१८ गुह्य समाज, पृ. २७
१९ प्रवचनसार, १.११-१२ ; २.६४; ३.४५ ; नियमसार, १३७-१३९.
२० **कायवाङ्मनः कर्मयोगः, स आश्रवः, शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य।** —**तत्त्वार्थसूत्र, ६. १-४.**
२१ ज्ञानार्णव
२२ जोगविहाणवीसिया, गाथा १,
२३ योगशास्त्र, प्रकाश १, श्लोक १५
२४ उपासकाध्ययन, ७०८
२५ ज्ञानार्णव, ४०-४
२६ उपासकाध्ययन, ६५१-६५८
२७ योगसार प्राभृत, ९. ९-११; १. ५९
२८ आदिपुराण, २१. ८६-८८
२९ ज्ञानार्णव; ३७; योगशास्त्र, १०-५
३० **मंतमूलं विविहं वेज्जचिंतं वमण-विरेयण धूमणेत्तसिसाणं।**
आउरे सरणं तिगच्छियं च तं परिन्नाय परिव्वए जे स भिक्खू॥ —उत्तरज्झयण १५.८
३१ **वितर्कः श्रुतम्, वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रान्तिः** —तत्त्वार्थ सूत्र, ९.४३-४४,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org